विशेषावश्यक-भाष्य के पाठान्तरों, उत्कीर्ण प्राचीन अभिलेखों और इसिभासियाइं की भाषा के परिप्रेक्ष्य में

प्राचीन आगम-ग्रन्थों का सम्पादन

डॉ० के० आर० चन्द्र

जैन अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी रचना प्राचीन मानी जाती है, परन्तु उन ग्रन्थों की भाषा में अर्वाचीनता के भी दर्शन होते हैं। आगमों की अन्तिम वाचना पाँचवीं-छठीं शताब्दी में की गयी जब कि उनकी प्रथम वाचना का समय ई० पूर्व चौथी शताब्दी का माना जाता है। महावीर और बुद्ध समकालीन माने जाते हैं परन्तु उनके युग की भाषा से पालि भाषा के प्राचीनतम त्रिपिटक-ग्रन्थों और अर्द्धमागधी के प्राचीनतम आगम ग्रंथों की भाषा में बहुत अन्तर पाया जाता है, यहाँ तक कि सम्राट् अशोक के शिलालेखों में, भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उससे भी काफी विकसित रूप अर्द्धमागधी आगम-ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहा है। होना ऐसा चाहिए था कि कम से कम प्राचीनतम जैन आगम ग्रन्थों में सम्राट् अशोक के पहले का तथा प्रथम जैन वाचना के काल का यानि चौथी शताब्दी ई० पूर्व का भाषा-स्वरूप मिले परन्तु ऐसा नहीं है। भाषा की इस अवस्था का क्या कारण हो सकता है? आगमोद्धारक पूज्यमुनि श्रीपुण्यविजय जी ने कल्पसूत्र की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा है कि समय की गति के साथ-साथ चालू भाषा के प्रभाव के कारण पूर्व आचार्यों, उपाध्यायों और लेहियों ने उन ग्रन्थों में जाने-अनजाने भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन किये हैं जो उनके शिष्य-अध्येताओं को अनुकूल एवं सरल रहे होंगे। आगम-ग्रन्थों के शब्दों में वर्ण-विकार की जो बहुलता आज विभिन्न प्रतों में देखने को मिलती है वह इसी प्रवृत्ति का नतीजा है। इन विषमताओं के कारण आगमों के विभिन्न संस्करणों में एक ही शब्द के अनेक रूप अपनाये गये हैं। श्री शुब्रिंग महोदय ने तो इस गुत्थी और उलझन से छुटकारा पाने के लिए और भाषा को एकरूपता देने के लिए मध्यवर्ती व्यंजनों का सर्वथा लोप ही कर दिया है चाहे चूर्णि अथवा ग्रन्थ की प्रतों में इस प्रकार का साक्ष्य मिले या न भी मिले। वर्ण-विकार की दृष्टि से ही नहीं परन्तु रूप-विन्यास की दृष्टि से भी कई ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ पर प्राचीन के बदले में अर्वाचीन रूप अपनाये गये हैं। शुब्रिंग महोदय के सिवाय अन्य विद्वानों के संस्करणों में भी समानता एवं एकरूपता नहीं है। किसी में लोप अधिक है तो किसी में कम। श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप कम मात्रा में मिलता है परन्तु वहाँ के संस्करण में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर मूल प्रतों एवं चूर्णि व टीका के आधार से अर्वाचीन की जगह पर प्राचीन शब्द या रूप स्वीकार किये जा सकते हैं। सम्पादन के नीति-विषयक नियमों में भी परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती है। यथा—अनेक प्रतियों में जो पाठ उपलब्ध हो उसे लिया जाय या प्राचीनतम प्रत में पाठ उपलब्ध हो उसे लिया जाय या चूर्णि का पाठ लिया जाय या टीकाकार का पाठ लिया जाय। अथवा भाषाकीय दृष्टि से जो रूप प्राचीन हो उसे अपनाया जाय?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो० श्री एल० आल्सडर्फ महोदय यदि छन्द की दृष्टि से किसी शब्द की मात्रा को घटा या बढ़ा सकते हैं, ह्रस्व या दीर्घ कर सकते हैं और उसमें अक्षर बढ़ा या घटा सकते हैं तो इसी तरह से भाषा की प्राचीनता को सुरक्षित रखने के लिए क्यों न प्राचीन रूप ही स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि किसी ग्रन्थ की प्राचीनता अन्य प्रमाणों से सुस्पष्ट हो तो फिर उसकी भाषा को भी प्राचीन रखने के लिए उपलब्ध आधारों के सहारे प्राचीन रूप ही स्वीकार किया जाना चाहिए। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि आगम ग्रन्थों की भाषा में ध्वन्यात्मक दृष्टि से बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। जैन लेहियों की प्रवृत्ति ही ऐसी रही है। इसका प्रबल साक्ष्य चाहिए तो हम विशेषावश्यक-भाष्य की प्रतों का अध्ययन करें। इससे इतना स्पष्ट हो जायेगा कि किसी को इस विषय में तनिक भी शंका करने का अवसर ही नहीं रहेगा।

पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित एवं ला० द० भा० सं० वि० मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित वि० आ० भा० की कुछ विशेषताएँ हैं। इसके सम्पादन में जिन प्रतों का उपयोग किया गया है उनमें से सबसे प्राचीन जैसलमेर की ताड़पत्रीय प्रत है जिसका समय लगभग ई० सन् ९५० है। (इसके अतिरिक्त 'त' संज्ञक प्रत भी ताड़पत्रीय है। 'हे' और 'को' संज्ञक दो छपे हुए संस्करण हैं जो मलधारी हेमचन्द्र एवं कोट्याचार्य की टीका सहित हैं)। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण जो प्रत मिली है वह है 'सं' संज्ञक जो स्वोपज्ञवृत्ति सहित है और उसका समय ई० सन् १४३४ है। स्वोपज्ञवृत्ति में हरेक गाथा का प्रथम शब्द मूल रूप में प्राकृत में दिया गया है और इससे इतना लाभ तो अवश्य है कि मूल रचनाकार ने प्राकृत शब्दों को किस स्वरूप में प्रस्तुत किया है उसे हम स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। मूल ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य जिनभद्र का समय ई० सन् की छठीं शताब्दी माना गया है (स्वर्गवास ई० सन् ५९३) और जैसलमेर की प्रत जिस आदर्श प्रत पर से लिखी गयी थी उसका समय ई० सन् ६०९ है ऐसा श्री दलसुखभाई का मन्तव्य है। अतः वि० आ० भा० की जो प्राचीनतम प्रत मिली है वह रचनाकार से लगभग ३५० वर्ष बाद की ही है इसलिए रचनाकार की जो मूल भाषा थी उससे कोई अलग भाषा परिवर्तित रूप में इस प्रत में मिलने की सम्भावना कम ही रहती है। स्वोपज्ञवृत्ति में प्राप्त शब्दों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा। ग्रन्थ के 'हे' एवं 'को' संज्ञक प्रकाशित संस्करणों के शब्दों में जो ध्वनिगत परिवर्तन मिलता है वह प्राकृत भाषा के विद्वानों एवं सम्पादकों के लिए ध्यान में लेने योग्य है।

वि० आ० भा० का ध्वनिगत विश्लेषण (गाथा नं० १ से १०० जिनमें सभी प्रतों के पाठान्तर दिये गये हैं)

(क) ग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति में दिये गये हरेक गाथा के प्रारम्भिक शब्दों का भाषाकीय (ध्वनिगत) विश्लेषण।

	लोप		सघोष - अघोष		यथावत्	
म० अल्प प्राण	९	१३%	९	१३%	४९	७४%
म० महा प्राण	०	०%	६	३५%	११	६५%
संयोग	९	१०%	१५	१८%	६०	७२%

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) 'जे' प्रत में प्रत्येक गाथा का वही प्रारंभिक शब्द

	लोप		सघोष - अघोष		यथावत्	
म० अल्प प्राण	७	१०%	१२	१८%	४८	७२%
म० महा प्राण	०	०%	९	५३%	८	४७%
संयोग	७	८½%	२१	२५%	५६	६६½%

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्वोपज्ञवृत्ति की तुलना में 'जे' प्रत की गाथाओं के प्रारम्भिक प्रथम शब्दों में ध्वनिगत परिवर्तन बहुत ही कम मात्रा में आगे बढ़ा है और यह अन्तर लगभग ५½% है। परन्तु 'जे' प्रत की १ से १०० गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण करने पर उनमें यह लोप ११½% है और यथावत् स्थिति ७०% है (आगे देखिए) जो स्वोपज्ञवृत्ति के साथ बहुत कम अन्तर रखता है।

१ से १०० गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण

	लोप				सघोष-अघोष				यथावत्				
(ग)	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	योग
क	३४	३५	३६	३६	२२	२१	२२	२२	४	४	२	२	५०
ग	०	०	०	०	०	०	०	०	२८	२८	२८	२८	२८
च	५	५	५	५	०	०	०	०	०	०	०	०	५
ज	३	३	३	३	०	०	०	०	०	०	०	०	३
त	१३	१५	१८५	१८५	१	१	०	०	१८४	१८२	१३	१३	१९८
द	६	२९	६२	६१	३३	८	०	०	३९	४१	१६	१७	७८
प	०	०	१	१	५०	५०	४९	४९	९	९	९	९	५९
य	१७	२०	३८	४०	०	०	०	०	७९	७६	५८	५६	९६
व	६	६	६	६	०	०	०	०	१४७	१४७	१४७	१४७	१५६
योग	८४	११३	३३६	३३७	१०६	८०	७१	७१	४९०	४८७	२७३	२७२	६८०

	स्पर्श-लोप				सघोष-अघोष				यथावत्				
(घ)	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	योग
ख	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	१
घ	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१
थ	२	३	३०	३०	२८	२७	०	०	०	०	०	०	३०
ध	२	३	४	५	०	०	०	०	३६	३५	३४	३३	३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फ	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१
भ	०	०	४	४	०	०	०	०	३६	३६	३२	३२	३६
योग	५	७	३९	४०	२८	२७	०	०	७४	७३	६८	६७	१०७

अल्पप्राण और महाप्राण दोनों का योग

८९, १२०, ३७५, ३७७ १४४, १०७, ७१, ७१ ५५४, ५६०, ३४१, ३३९ ७८७

विश्लेषण:—विभिन्न प्रतों और संस्करणों के अनुसार

लोप	जे	त	हे	को
अ० प्रा०	८४, १२½%	११३, १६½%	३३६, ५०%	३३७, ५०%
म० प्रा०	५, ५%	७, ७%	३९, ३६%	४०, ३६%
योग	८९, ११½%	१२०, १५%	३७५, ४८%	३७७, ४८%
यथावत्	**जे**	**त**	**हे**	**को**
अ० प्रा०	४९०, ७२%	४८७, ७०%	२७३, ४०%	२७२, ४०%
म० प्रा०	७४, ७०%	७३, ७०%	५८, ५३%	५७, ५३%
योग	५६४, ७०%	५६०, ७१%	३४१, ४३%	३३९, ४३%

सघोष-अघोष	जे	त	हे	को
अ० प्रा०	१०६, १६%	८०, १२%	७१, १०½%	७१, १०½%
म० प्रा०	२८, २६%	२७, २५%	०, ०%	०, ०%
योग	१३४, १८½%	१०७, १४%	७१, ९%	७१, ९%

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वि० आ० भा० में लगभग ११% हो लोप प्राप्त होता है और यथावत् स्थिति ७०% है। छठीं शताब्दी की कृति में यह कैसे हो सकता है ? इस अवस्था के लिए ऐसा माना जाता है कि उस काल में बढ़ते हुए संस्कृत के प्रभाव के कारण प्राकृत रचनाओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि नामिक विभक्तियों और क्रिया रूपों में 'त' का प्रयोग अधिक प्रमाण में मिलता है—सं० भू० कृ० 'त', पं० ए० व० 'तो', व० का० तृ० पु० ए० व, ति,' और मध्यवर्ती 'त' के कुल १९८ प्रसंगों में से मात्र एक स्थल पर 'त' का 'द' (दीसदि-५३) और लोप मात्र १३ स्थलों पर मिलता है जबकि 'त' की यथावत् स्थिति १८४ स्थलों पर उपलब्ध है। इस अवस्था का कारण यही हो सकता है कि रचयिता को भाषा का यही स्वरूप उस समय मान्य था। एक अन्य 'त' प्रत जो उपलब्ध है उसमें लोप १५% मिलता है और यथावत् स्थिति तो ७०% ही है। इनके साथ जब 'हे' एवं 'को' संस्करणों की तुलना करते हैं तो उनमें लोप ४८% और यथावत् स्थिति ४३% रहती है। घोषीकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रमाण क्रमशः घटता जाता है :—'जे' में १८⅓, 'त' में १४ तो 'हे' और 'को' में मात्र ९ प्रतिशत ही रह जाता है। इससे स्पष्ट साबित होता है कि ग्रन्थ के मूल प्राकृत शब्दों में काल की गति के साथ लेहियों के हाथ ध्वन्यात्मक परिवर्तन किस गति से बढ़ता गया है। इस दृष्टि से वि० आ० भा० का यह विश्लेषण बहुत ही उपयोगी है। इसके आधार से हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि यदि वि० आ० भा० की भाषा में कुछ शताब्दियों के बाद इतना परिवर्तन आ सकता है तो फिर मूल आगम ग्रन्थों की भाषा में एक हजार और पन्द्रह सौ वर्षों के बाद कितना परिवर्तन आया होगा इसका अन्दाज सरलता से लगाया जा सकता है।

भाषा सम्बन्धी इस परिवर्तन के दो कारण रहे हैं—एक तो समकालीन भाषा का परिवर्तित रूप और द्वितीय व्याकरणकारों द्वारा प्रस्तुत किये गये भाषा सम्बन्धी नियम। प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने यदि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हरेक भाषा का स्वरूप निरूपित किया होता तो शायद यह परिस्थिति नहीं होती। व्याकरणों में आर्ष प्राकृत के कुछ उदाहरण तो अवश्य दिये गये हैं परन्तु मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप (कुछ व्यंजनों के घोषीकरण के सिवाय) सर्वव्यापी सभी प्राकृत भाषाओं पर लागू हो जाता हो ऐसा फलित होता है; जबकि प्राचीन प्राकृत भाषाओं—मागधी, शौरसेनी अर्धमागधी आदि में इस प्रकार का लोप होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। बड़े पैमाने पर लोप महाराष्ट्री प्राकृत में ही हुआ है और इस भाषा का काल ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों का माना जाता है। अनेक प्राचीन लेखों में उत्कीर्ण भाषा-स्वरूप पर विचार करें तब भी यही फलित होता है। उदाहरण के तौर पर महावीर के ८४ वर्ष बाद में बडली (राज०) में उपलब्ध शिलालेख में मध्यवर्ती व्यंजन का लोप नहीं मिलता, नामिक विभक्ति—'ते' और 'ये' हैं, उसके स्थान पर 'ए' नहीं है। अशोक के शिलालेखों में ध्वनि विकार का प्रारम्भ हो गया है, घोषीकरण, अघोषीकरण एवं लोप का प्रमाण ५ से ६ प्रतिशत ही है। मौर्यकालीन अन्य शिलालेखों में भी यही प्रमाण है। खारवेल के शिलालेख में घोषीकरण बढ़ गया है। आठ में से छः बार 'थ' का 'ध' मिलता है हालाँकि वर्ण-विकार तो ५-६ प्रतिशत ही मिलता है। विभिन्न प्रकार के प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति का प्रचलन उत्तर पश्चिम और पश्चिम भारत में सबसे पहले हुआ था। इतना ही नहीं परन्तु मध्यवर्ती 'न' के 'ण' में परिवर्तन भी इसी क्षेत्र की देन है। उत्तर-पश्चिम भारत में प्राप्त ई० सन् प्रथम शताब्दी के तीन लेखों में (पंजतर, कलवान और तक्षशिला; सरकार संस्करण, नं० ३२,३३,३४) के विश्लेषण से यह साबित होता है कि उनकी भाषा में लोप ३०%, यथावत् स्थिति ५३% और सघोष-अघोष १७% मिलता है) कुल लोप २७, यथावत् ४७, सघोष १३ और अघोष २ = (८९ प्रसंग)। इनमें प्रारम्भिक 'न' का 'ण' में परिवर्तन १००% है और मध्यवर्ती 'न' का ७५% मिलता है। पश्चिम भारत में नासिक, कण्हेरी और जुनर के लेखों में भी लोप एवं सघोष की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। 'न' का 'ण' में परिवर्तन भी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो रहा है।

इस ध्वन्यात्मक परिवर्तन की दृष्टि से 'इसिभासियाइं' का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। यह भी एक प्राचीन कृति मानी जाती है। शुब्रिंग महोदय द्वारा संपादित संस्करण में अध्याय नं. १,२,३, ५,११, २९ और ३१ में मध्यवर्ती लोप ११ से ३१% के बीच है, यथावत् स्थिति ४५ से ८१% है। इन सातों अध्ययनों का औसत है—लोप २७⅓%, यथावत् ६०⅔% तथा सघोष अघोष १२%। इसका संपादन मात्र दो प्रतों के आधार से किया गया है। पाठान्तरों की बहुलता नहीं है जो हमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम ग्रन्थों में मिलती है। 'इसिभासियाइं' के कम प्रचलन के कारण इस ग्रन्थ की भाषा का विभिन्न हाथों से कायाकल्प न हो सका। यदि इसकी भी अनेक प्रतियाँ विभिन्न कालों में बनती गयी होती तो इसकी भी वही दशा होती जो अन्य प्राचीन आगम ग्रन्थों की हुई है। एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है; इस संस्करण में मध्यवर्ती 'त' का आचारांग की तरह सर्वथा लोप नहीं किया गया है परन्तु अलग-अलग अध्ययनों में अलग-अलग मात्रा में मिलता है। लोप और यथावत् स्थिति क्रमशः इस प्रकार उपलब्ध हो रही है—अध्याय १—३२।६८, २—०।१००, ३—१५।८५, ५—२८।७२, ११—२७।७३, २९—४८।५२, एवं ३१—२१।७९। इन साक्ष्यों के आधार से श्री शुब्रिंग महोदय द्वारा सम्पादित आचारांग में उपलब्ध मध्यवर्ती व्यंजनों का ५८% लोप किस तरह स्वीकारा जा सकता है। उनके द्वारा प्रयुक्त ताड़पत्रीय प्रत (संवत् १३४८) में ही व० का० तृ० पु० ए० व० के प्रत्यय 'ति' का प्रयोग ५०% और उसी प्रकार 'इ' का प्रयोग ५०% (प्रथम अध्ययन के विश्लेषण के अनुसार) है। उन्होंने पाठान्तरों में 'ति' नहीं दिया है और सर्वत्र 'इ' को ही अपनाया है। श्री महावीर विद्यालय द्वारा प्रकाशित आचारांग में म० व्यंजनों का लोप २४% है परन्तु पाठान्तरों के आधार से ही ऐसे पाठ स्वीकार किये जाने योग्य हैं जिनमें वर्ण-लोप नहीं है।

इस अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों की भाषा भी प्राचीन होनी चाहिए। कालान्तर में हस्तप्रतों में जो विकार आये वे सब त्याज्य माने जाने चाहिए। मूल ग्रन्थ की हस्तप्रतों, चूर्णि ग्रन्थ या टीका जो भी हो जिस किसी में भी यदि भाषाकीय दृष्टि से प्राचीन रूप मिलता हो और अर्थ की संवादिता सुरक्षित रहती हो तो उसी पाठ को स्वीकार किया जाना चाहिए। आगम-ग्रन्थों के सम्पादकों के सामने यही सुझाव है जो इस विश्लेषण से स्पष्ट हो रहा है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की विभिन्न कालों में जितनी अधिक प्रतिलिपियाँ उतरती गयीं उतने ही प्रमाण में उस ग्रन्थ की मूल भाषा में परिवर्तन भी बढ़ता ही गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषावश्यक भाष्य की गाथा नं० १ से १०० के कतिपय प्रारंभिक शब्द

अब वि. आ. भा. के विभिन्न संस्करणों में प्रयुक्त कतिपय उन शब्दों की तुलनात्मक तालिका दी जा रही है जो एक से सौ गाथाओं के प्रारम्भिक शब्द हैं। इस तालिका से जो स्थिति सामने आती है वह इस प्रकार है :—

ग्रन्थ–प्रकाशन–वर्ष		1966 AD.	1966 AD.	1936 AD.	1914 AD.	लगभग दशवीं शताब्दी की प्रत	अज्ञात समय की प्रत
गाथा नं०	संस्कृत	मूलपाठ	स्वो० टी०	को०	हे०	जे०	त०
४१.	अतीतम्	अतीतं	अतीतं	अतीयं	अतीतं	अतीतं	अतीतं
२३.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
५०.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
५१.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
५६.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
७८.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
६५.	अनुमतम्	अणुमतं	अणुमतं	अणुमयं	अणुमयं	अणुमतं	अणुमतं
५२.	अभिधानम्	अभिधाणं	अभिधाणं	अभिहाणं	अभिहाणं	अभिधाणं	अभिधाणं
५७.	अभिधानम्	अभिधाणं	अभिधाणं	अभिहाणं	अभिहाणं	अभिधाणं	अभिधाणं
८२.	अवधीयते	अवधीयते	अवधीयते	अवहीयए	अवहीयए	अवधीयते	अवधीयते
२९.	आगमतः	आगमतो	आगमतो	आगमओ	आगमओ	आगमतो	आगमतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा० नं०	संस्कृत	मूलपाठ	स्वो० टी०	को०	हे०	जे०	त०
७३.	आदि	आदि	आदि	आइ	आइ	आदि	आदि
७५.	आदि	–आइ–	आदि	आइ	आइ	आति	आइ
२१.	इह	इध	इध	इह	इह	इध	इध
५१.	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह
५५.	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह
७७.	ऋजुसूत्री	उज्जुसुता	उज्जुसुता	उज्जुसुया	उज्जुसुया	उज्जुसुता	उज्जुसुता
५.	कृत	कत	कत	कय	कय	कत	कत
२४.	गालयति	गालयति	गालयति	गालयइ	गालयइ	गालयति	गालयति
३३.	चूतः	चूतो	चूतो	चूओ	चूओ	चूतो	चूवो
३६.	चूतादिभ्यः	चूताईएर्हितो	चूता०	चूथाईए०	चूयाईए°	चूयातीए°	चूताईए°
३.	ज्ञान	णाण	णाण	नाण	नाण	णाण	णाण
३०.	ज्ञानम्	णाणं	णाणं	नाणं	नाणं	णाणं	णाणं
४६.	ज्ञायक	जाणग	जाणग	जाणय	जाणय	जाणग	जाणग
८१.	ततः	ततो	ततो	तओ	तओ	ततो	ततो
१९.	त्रिधा	तिधा	तिधा	तिहा	तिहा	तिधा	तिधा
२८.	द्रवति	दवते	दवते	दवए	दवए	दवते	दवते
२८.	द्रूयते	दूयति	दूयति	दुयए	दुयए	दूयति	दुयए
८.	नमस्कारः	णमोक्कारो	णमोक्कारो	नमोक्कारो	नमोक्कारो	णमोक्कारो	णमोक्कारो
२३.	निपातात्	णिवातणातो	णिवातणातो	निवायणाओ	निवायणाओ	णिवातणावो	णिवातणातो
९७.	निबुध्यते	णिबुज्झति	णिबुज्झति	निबुज्झइ	णिबुज्झइ	णिबुज्झति	णिबुज्झति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा नं०	संस्कृत	मूलपाठ	स्वो० टी०	को०	हे०	जे०	त०
५८	निवृत	णिव्वुत	णिव्वुत	निव्वुय	निव्वुय	णिव्वुत	निव्वुय
४७.	भूत	भूत	भूत	भूय	भूय	भूत	भूत
२२.	मङ्ग्यते	मगिज्जते	मंगिज्जते	मंगिज्जए	मंगिज्जए	मंगिज्जते	मंगिज्जते
८६.	मति	मति	मति	मइ	मइ	मति	मति
५७.	यथा	जध	जध	जह	जह	जध	जह
२०.	यदि	जति	जति	जइ	जइ	जति	जति
३०.	यदि	जति	जति	जइ	जइ	जति	जति
१००.	यदि	जति	जति	जइ	जइ	जति	जति
७२.	विवदन्ति	विवदंति	विवदंति	विवयंति	विवयंति	विवदंति	विवदंति
४९.	श्रुत	सुत	सुत	सुय	सुय	सुत	सुय
९८.	श्रुत	सुत	सुत	सुय	सुय	सुत	सुत
१००.	श्रुत	सुत	सुत	सुय	सुय	सुत	सुत
४०.	सूत्रस्य	सुतस्स	सुतस्स	सुअस्स	सुअस्स	सुतस्स	सुतस्स
४३.	हेतुः	हेतू	हेतू	हेऊ	हेऊ	हेतू	हेतू

१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ के 'को' एवं 'हे' संस्करणो में मध्यवर्ती त, थ, द, ध, एवं क के बदले में य, ह, य, ह एवं य वर्ण क्रमशः मिलते हैं। स्पष्ट है कि मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप अधिक मात्रा में पाया जाता है जैसा कि ऊपर पहले ही बतला दिया गया है। जब तक अन्य प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियाँ नहीं मिली थी तब तक इन संस्करणों को ही प्रमाणित माना जाता था और मध्यवर्ती व्यञ्जन-लोप-युक्त शब्द ही लेखक की भाषा हो ऐसा समझा जाता रहा परन्तु 'जे' प्रत मिलने से सारा तथ्य ही बदल गया। यह प्रत सबसे प्राचीन है और उसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है जिसमें लेखक के ही शब्दों की वर्ण-व्यवस्था सुरक्षित है। इसमें मध्यवर्ती 'त' की यथावत् स्थिति होने के कारण किसी विद्वान् को यह शंका हो कि इसमें भी 'त' श्रुति आ गयी है तो उसका निराकरण इस बात से होता है कि ग्रन्थकार ने जो स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है उसमें भी मध्यवर्ती 'त' की वही स्थिति है। अतः बाद में 'त' आ गया हो ऐसा कहना उचित नहीं लगता। 'जे' प्रत के शब्दों और स्वोपज्ञ वृत्ति के शब्दों की वर्ण व्यवस्था में पर्याप्त समानता है यह ऊपर बतलाया जा चुका है। कोई यदि ऐसा कहे कि स्वोपज्ञ-वृत्ति की प्रत ई० स० १४३४ की है अतः उसमें भी 'त' श्रुति आ गयी होगी। इसके उत्तर में यह भी तो प्रश्न होता है कि तब फिर 'क' के लिए 'ग', 'थ' के लिए 'ध' और 'द' के लिए 'द' का प्रयोग दोनों प्रतों में मिलता है उसका क्या उत्तर होगा। अतः 'त' श्रुति की शंका करना निराधार बन जाता है। लेखक को जो मान्य थी वैसी ही वर्ण-व्यवस्था उन्होंने अपनायी है। 'को' एवं 'हे' संस्करणों में वर्ण-सम्बन्धी जो परिवर्तन पाया जाता है वह लेहियों द्वारा बाद में किया गया परिवर्तन है—लोप है—पश्चात् कालीन व्याकरणकारों का प्रभाव है—चालू भाषा का प्रभाव है ऐसा अकाट्य रूप से प्रमाणित हो रहा है। उन्होंने ही भाषा की प्राचीनता को बदला है जो दर्पण की तरह स्पष्ट हो रहा है। यह तो पाँचवीं-छठी शताब्दी में रचे गये एक ग्रन्थ की कहानी है तब फिर प्राचीन आगम ग्रन्थों की भाषा के साथ १५०० वर्षों में कितना क्या कुछ नहीं हुआ होगा यह कैसे कहा जा सकता है। उनके साथ भी यदि ऐसा ही हुआ है तो अभी तक के संस्करणों में मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप को जो महत्त्व दिया है वह बिलकुल गलत है और भाषा की एकरूपता के नाम से (ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से) कृत्रिम सिद्धान्त खड़ा किया गया है वह अस्वीकार्य बन जाता है। विद्वानों की भाषा और उपदेशक-सन्तों की भाषा में हमेशा अन्तर रहा है। उपदेशकों की भाषा में बहुलता रहती है जो लोकभाषा का सहारा लिये हुए होती है। क्या प्राचीन हिन्दी, प्राचीन गुजराती एवं प्राचीन राजस्थानी के साहित्य में ये सब तथ्य हमारे सामने नहीं आते हैं? अतः अभी तक प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में जो नीति अपनायी गयी है वह उचित है या उसे बदलने-सुधारने की आवश्यकता है इस विषय पर प्राकृत के अनुभवी विद्वान् अपने-अपने विचार प्रकट करें।

—प्राकृत विभाग
गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org